© INNOVATIVE RESEARCH THOUGHTS | Refereed | Peer Reviewed | Indexed
ISSN : 2454 – 308X | Volume : 06 , Issue : 05 | May 2020

समकालीन हिन्दी कहानी में दलित आंदोलन का दर्शन और अम्बेडकरवाद

शोधकर्ता
सरोज बाला

Dr Sumitra choudhary
Associate professor
Sunrise University Alwar

अम्बेडकरवादी चिंतन का प्रभाव –

प्रस्तुत शोध प्रबंध के लिए चुनी गई कहानियों पर डॉ0 बी.आर. अम्बेडकर के आंदोलन के प्रभाव की चर्चा करने से पूर्व कुछ बातों की संक्षेप में चर्चा आवश्यक है। जैसे कि अम्बेडकर का आंदोलन क्या था और उसकी विचारधारा क्या थी ? तत्कालीन समय में अम्बेडकर के आंदोलन के अलावा और कौन से आंदोलन थे और उनकी विचारधारा क्या थी क्योंकि गैर–दलितों की मनःस्थिति और वैचारिक दृष्टि इन्हीं आंदोलनों से निर्मित हुई थी। संक्षेप में गैर–दलित आंदोलन की चर्चा तुलनात्मक रूप से चीजों को देखने में सहायता प्रदान करेगी जिससे विषय को सही परिप्रेक्ष्य मिल सकेगा।

दलितों के लेखन पर डॉ0 बी. आर. अम्बेडकर के प्रभाव की चर्चा प्रायः होती रही है और दलित साहित्यकारों का तो यह दावा ही रहा है कि उनका लेखन अम्बेडकरवाद से अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है, पर गैर–दलितों के लेखन पर डॉ0 बी.आर. अम्बेडकर के आंदोलन के प्रभाव की चर्चा बहुत ही कम हुई है। अगर किसी पर हुई है तो वह मुंशी प्रेमचन्द। हालांकि यह चर्चा भी निरापद नहीं है। चूंकि शोध का विषय स्वतन्त्रता के बाद के कथा साहित्य से सम्बन्धित है। इसलिए यहा स्वतन्त्रता के पूर्व की स्थितियों की संक्षेप में चर्चा आवश्यक है। इस संदर्भ में चर्चा के लिए पहला प्रश्न यह उठता है कि गैर–दलितों के तत्कालीन दलित लेखन पर अम्बेडकरवादी विचारधारा का क्या प्रभाव था ? था भी या नहीं। अगर था तो कैसा ? लेकिन इससे पहले इसकी चर्चा करना आवश्यक है कि स्वतन्त्रता आंदोलन से पूर्व दलित आंदोलन की स्थिति क्या थी ? उसका स्वरूप क्या था ? और उसकी विचारधारा क्या थी ?

आधुनिक भारत में अम्बेकरवादी आंदोलन का आरंभ वर्ष 1920 के आसपास होता है। वह वही समय है जब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के संपादन एवं देखरेख में वर्ष 1917 में 'मूकनायक' और वर्ष 1927 में 'बहिष्कृत भारत' नामक पत्र निकला जिसके माध्यम से उन्होंने दलितों एवम् देश की स्थिति के विषय में अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किया। वर्ष 1927 में ही 'महाड़ सत्याग्रह' और वर्ष 1930 में कालाराम मंदिर प्रवेश के आंदोलन का नेतृत्व किया। वर्ष 1927 में लंदन में आयोजित पहली राऊंड टेबल कांफ्रेंस में अछूतों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। पुनः 1931 में ही आयोजित दूसरे राऊंड टेबुल कांफ्रेंस में दलितों के प्रतिनिधि के रूप में गांधी जी के साथ भाग लिया। अंबेडकर के प्रयासों से ही ब्रिटिश सरकार ने अछूतों को भी अल्पसंख्यक समुदाय का दर्जा प्रदान किया और उनके लिए प्रांतीय एवं केन्द्रीय विधायिकाओं में अलग से प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जिसे 'सेपरेट सेटिलमेंट' के नाम से जाना गया। महात्मा गांधी द्वारा दलितों के इस विशेषाधिकार का कड़ा विरोध किया गया। यहां तक कि गांधी जी इसके विरोध में आमरण अनशन पर चले गए। परिणामतः डॉ0 बी. आर. अम्बेडकर को यह अधिकार गांधी जी के जीवन की एवज में छोड़ना पड़ा और गांधी जी के साथ वर्ष 1939 में उन्हें 'पूरा पैक्ट' नामक समझौता करने को बाध्य होना पड़ा। स्वतन्त्रता आंदोलन के पूर्व यही कुछ महत्वपूर्ण घटनाएं थी जिनका संबंध दलित आंदोलन से था।

अछूतों के भी कुछ मानवाधिकार हैं वे उनको मिलने चाहिए।

1. अपना यह अधिकार वे अनुनय–विनय या हीन–दीन होकर नहीं मांग रहे थे, बल्कि दृढ़ता एवं पूरी विनम्रता के साथ, अपने पूरे स्वाभिमान और गरिमा के साथ।
2. वे शोषित तो हैं पर अपने शोषण के विरूद्ध लड़ने का उनमें भरपूर उत्साह है।
3. उचित नेतृत्व मिलने पर वे अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करते हैं, जूझते हैं।
4. हिन्दू धर्म से अलग अपनी स्वतन्त्र पहचान के लिए प्रयासरत हैं। अर्थात् वे हिन्दू धर्म से मुक्ति के लिए उद्यत है।
5. वे इस समाज व्यवस्था और उसके दर्शन की तार्किक आलोचना करते हैं और उसके स्थान पर एक वैकल्पिक समाज व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें समता, स्वतन्त्रता और भाईचारे के मूल्य स्थापित हों। इसलिए वे यथास्थितिवादी न होकर परिवर्तनवादी हैं।
6. अछूतों की विचारधार बहुत हद तक अस्मितावादी है।

स्वतन्त्रता आंदोलन से पूर्व अम्बेडकरवादी आंदोलन और उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि के बाद अन्य दो गैर–दलित आंदोलन और उसकी पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। गैर–दलित आंदोलन और उसकी विचारधारा के रूप में मुख्यतः दो आंदोलन और विचारधारा का उल्लेख किया जा सकता है। मार्क्सवादी और गांधीवादी। स्वतन्त्रता आंदोलन का नेतृत्व कांग्रेस के हाथों में था और कांग्रेस का नेतृत्व गांधी जी कर रहे थे, जिसका मुख्य उद्देश्य था साम्राज्यवादी सत्ता से देश की जनता की मुक्ति। सामाजिक आंदोलन से उसका कोई सरोकार नहीं था। इस देश में सामाजिक आंदोलन से तात्पर्य था वर्णाश्रम व्यवस्था के विरूद्ध आंदोलन। अर्थात् जातिवाद और सामंतवाद दोनों से मुक्ति का आंदोलन। इससे कांग्रेस बहुत दूर खड़ी थी। कांग्रेस के आठवें अधिवेशन में जो इलाहाबाद में संपन्न हुआ था उसमें इस विषय पर चर्चा चली कि राजनैतिक आंदोलन के साथ–साथ सामाजिक आंदोलन भी चलाया जाए। इस प्रक्रिया में इस बात पर भी बहस हुई कि किस को प्राथमिकता के स्तर पर लिया जाए राजनैतिक आंदोलन को या सामाजिक आंदोलन को। कुछ लोगों का मत था कि राजनैतिक आंदोलन की सफलता के लिए सामाजिक आंदोलन जरूरी है। इसलिए इसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए। अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए डब्ल्यू. सी. बनर्जी ने इसका कड़ा प्रतिरोध किया और कहा कि – 'राजनैतिक आंदोलन से सामाजिक आंदोलन का कोई सीधा संबंध नहीं।' उनके कहने का आशय यह था कि राजनैतिक आंदोलन अपनी जगह और सामाजिक आंदोलन अपनी जगह। इस तरह उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के लिए सामाजिक मुक्ति के प्रश्न को पीछे धकेल दिया और अंत तक अर्थात् आजादी मिलने तक कांग्रेस की यही नीति बनी रही। कांग्रेस का यह दृष्टिकोण डॉ0 बी.आर. अम्बेडकर के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न था। बाद में डॉ. अम्बेडकर के आंदोलन के दबाव में कांग्रेस सामाजिक प्रश्नों को थोड़ा बहुत महत्व देने लगी थी। पर वर्ष 1932 तक तो बिल्कुल ही नहीं। जिसका उल्लेख प्रो. नामवर सिंह एक जगह मुंशी प्रेमचन्द के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए किया है – ''रंगभूमि की समस्या राष्ट्रीय मुक्ति की है। इस राष्ट्रीय मुक्ति में प्रेमचन्द दलितों का जो रूप सामने रखते हैं और ये 1924 में लिखा हुआ उपन्यास है और 1925 में छपा था। तब तक हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के प्रोग्राम में दलित कहीं नहीं थे। असहयोग आंदोलन दलितों का आंदोलन नहीं था। चौरा–चौरी घटना दलितों को लेकर नहीं हुई थी। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन में तब तक केन्द्र में दलित आंदोलन नहीं आ सका था, बावजूद इसके कि एक अरसे से बाबा साहब अपनी लड़ाई लड़ रहे थे। लेकिन वह राष्ट्रीय आंदोलन और कांग्रेस का हिस्सा नहीं बन सका था। यह सच्चाई है।'' प्रो0 नामवर सिंह आगे अपने लेख में यह सीमा 1932 तक निर्धारित करते हैं।

भारत में वर्ष 1925 में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। साम्राज्यवाद विरोध में कम्युनिस्ट पार्टी शामिल रही। इनक म्युनिस्ट पार्टियों ने भी डॉ0 बी. आर. अम्बेडकर के आंदोलन को महत्व नहीं दिया। गैर कम्युनिस्ट

पार्टियों की तरह तत्कालीन कम्युनिस्टों के लिए भी डॉ0 बी. आर. अम्बेडकर साम्राज्यवादी दलाल थे। कांग्रेस की ही तरह कम्युनिस्ट पार्टियों के एजेण्डे में सामाजिक आंदोलन नहीं था। इस देश में कम्युनिस्ट पार्टी का कई बार विभाजन हुआ, पर कभी भी दलित मुद्दे अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था के मुद्दे पर नहीं हुआ। तत्कालीन समय में गांधीवाद के बाद साम्यवाद ही दूसरी मुख्य विचारधारा थी जिसका राजनीति के क्षेत्र में महत्व तो था ही, इसने साहित्य पर भी अपना प्रभाव छोड़ा।

वर्ष 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। उसके बाद बड़े पैमाने पर साहित्य का सृजन मार्क्सवादी विचारधारा के पैटर्न पर आरंभ हुआ। इस विचारधारा के आधार पर जनता को दो वर्गों में घटकार (Reduce) देखा गया और उसी के अनुरूप रचना में नायक और नायिकाओं का सृजन और उनको महत्व भी प्रदान किया जाने लगा। इतना ही नहीं इस विचारधारा के आधार पर रचना के मूल्यांकन का प्रतिमान भी निर्धारित किया गया। इसी तरह गांधीवादी विचारधारा के अनुरूप रचना में आदर्शवादी चरित्रों का निर्माण किया गया और निम्न वर्ग से आने वाले चरित्रों को दीन–हीन दिखाकर उन्हें दया और करूणा का पात्र बना दिया गया। यहां भी रचना का मूल्यांकन आदर्शवादी मूल्यों के प्रतिमानों पर किया गया। पर क्या यही बात डॉ0 अम्बेडकर के आंदोलन के संदर्भ में कही जा सकती है ?

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व मुख्यतः तीन गैर–दलित रचनाकारों ने दलितों के जीवन को अपनी रचना का विषय बनाया। मुंशी प्रेमचन्द, बेचन शर्मा 'उग्र' और महापंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'। मुंशील प्रेमचन्द अपनी कहानियों एवम् उपन्यासों में दलितों की दयनीय स्थिति का चित्रण किया। उनके विरुद्ध हो रहे अन्याय और शोषण को उजागर किया। ताकि लोग दलितों की दयनीय स्थिति के विषय में सोचें। इसी बहाने उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयास किया कि वर्तमान समाज व्यवस्था कितनी क्रूर और प्रतिगामी है। उद्देश्य यह कि लोग इस व्यवस्था से घृणा करें और इसके अंत के लिए सोचें। इसी बात को ध्यान में रखकर प्रो0 मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि – ''मेरे विचार में 'कफन' में प्रेमचन्द ने घासू और माधव की मानसिकता के लिए स्वयं घीसू और माधव को नहीं, बल्कि सामंती समाज के पाखंड को जिम्मेदार ठहराया है। प्रेमचन्द का उद्देश्य भी यही है। जो समाज व्यवस्था घीसू और माधव की मानसिकता पैदा कर सकती है उसका नाश मनुष्यता के लिए आवश्यक है।'' मुंशी प्रेमचन्द अपनी रचना के माध्यम से दलितों के प्रति लोगों में सहानुभूति और तत्कालीन समाज व्यवस्था के प्रति घृणा पैदा की। महापंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने 'चतुरी चमार' नाम से कहानी एवम् 'दलित जन पर करो करूणा' नाम से कविता लिखकर दलितों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। इसी तरह बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपने उपन्यास 'बुधुवा की बेटी' में दलित समाज के जीवन को केन्द्र में रखकर कथानक का निर्माण किया और उसे अपने ढंग से विकसित किया। इन उपरोक्त लेखकों की रचनाएं अम्बेडकरवादी आंदोलन से प्रभावित थी ऐसा तो बिल्कुल ही नहीं कहा जा सकता। दलित आंदोलन से उनका दूर–दूर तक नाता नहीं था। इन रचनाओं के कथानकों से कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता कि दलित आंदोलन का दर्शन क्या था ? उसका उद्देश्य क्या था ? उसके अस्तित्व के आधार क्या थे ? उसकी एतिहासिकता क्या थी ? और उसके राजनैतिक और सामाजिक सरोकार क्या थे ? या इन रचनाओं का कोई भी पात्र अम्बेडकर की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता हुआ नहीं दिखता। इसलिए तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में दलित दृष्टिकोण की झलक कहीं से नहीं मिलती। इन रचनाओं के सन्दर्भ में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि डॉ0 अम्बेडकर के आंदोलन ने इनके लेखकों का ध्यान दलितों के जीवन के प्रति खींचा। वह भी प्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से ही, क्योंकि ये सब चीजें गांधीवाद से होकर आ रही थी। इससे अधिक कुछ नहीं। इस संदर्भ में दूसरी महत्वपूर्ण यह बात कही जा सकती है कि जहां कांग्रेस के राजनैतिक आंदोलन में दलित आंदोलन के रूप में सामाजिक आंदोलन का प्रश्न अनसूना कर दिया

गया वहीं साहित्य में यह प्रश्न साथ–साथ चला जिसकी अगुवाई मुंशी प्रेमचन्द ने की। आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में कथा सम्राट मुंशी प्रेमचन्द पहले गैर–दलित साहित्यकार है जिन्होंने दलितों के जीवन को अपनी रचना का विषय बनाया। सौभाग्य से मुंशी प्रेमचन्द पहले ऐसे गैर–दलित कथाकार भी हैं जिन्होंने रचना को समाज के प्रति आग्रही बनाया। उन्होंने स्पष्ट रूप से साहित्य के सामाजिक उद्देश्यों को निर्धारित किया और बड़े ही शक्तिशाली ढंग से उसकी वकालत भी की। चूंकि उनका रचनाकर्म उद्देश्यगत था, इसलिए वह सचेतन और योजनाबद्ध तरीके से संपन्न भी किया गया। लिहाजा उनके लेखन के संदर्भ में यह कहना मुश्किल होगा कि उनकी रचनाओं में समाज के विभिन्न वर्गों की उपस्थिति मात्र प्रसंगवश है। उन्हीं के समकालीन दलित समाज से आने वाले हीरोडोम और स्वामी अछूतानंद भी अपनी टूटी फूटी भाषा में अपने समाज के दुख–दर्द की स्वाभाविक अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में कर रहे थे जिसे आज के दलित साहित्य आंदोलन के आरम्भिक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। इन दोनों ही धाराओं की रचनाओं में सामाजिकता का आग्रह प्रबल था। इसलिए यह कितनी महत्वपूर्ण बात है कि जहां कांग्रेस ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय सामाजिक प्रश्नों को पीछे धकेल दिया वहीं मुंशी प्रेमचन्द ने आजादी के प्रश्नों को महत्व देते हुए भी सामाजिक प्रश्नों को अपनी रचना के केन्द्र में रखा। अर्थात् बहुत हद तक सामंतवाद और कुछ हद तक जातिवाद को। यहां मुंशील प्रेमचन्द ने अपनी इस बात को – 'साहित्य, राजनीति के आगे चलने वाली मशाल हैं, सही सिद्ध किया। पर सामाजिक समस्याओं के निदान और उसके आंदोलन के संदर्भ में मुंशी प्रेमचनद का जो दृष्टिकोण था वह दलित आंदोलन के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था। इस संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि उन पर डॉ0 बी. आर. अम्बेडकर के आंदोलन का प्रभाव था। इसलिए यहां मात्र इतना ही दिखाना था कि तत्कालीन राजनैतिक आंदोलन जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों को छोड़ रहा था साहित्य उन प्रश्नों को बराबर महत्व दे रहा था। जैसा कि स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता आंदोलन के पूर्व का गैर–दलितों का दलित लेखन बहुत कम है और जो है उस पर डॉ0 बी.आर. अम्बेडकर के आंदोलन का प्रभाव न के बराबर है। इसके पीछे कई कारण हो सकते हैं, पर इस संदर्भ में एक बात कही जा सकती है कि चूंकि स्वतन्त्रता आंदोलन के दौरान गैर दलितों के लिए राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न प्रमुख था और दलितों की सामाजिक मुक्ति का प्रश्न गौण। इसलिए स्वतन्त्रता आंदोलन के दौरान गैर–दलितों का ध्यान दलित समस्या की ओर न जाना स्वाभाविक है और दूसरी तरफ तत्कालीन दलित आंदोलन भी व्यापक नहीं था। लेकिन आजादी के बाद के दलित आंदोलन के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्वतन्त्रता के बाद का दलित आंदोलन अपनी व्यापकता प्राप्त कर चुका था जिसमें निम्न घटनाओं का महत्वपूर्ण योगदान था।

1. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का संविधान सभा में जाना।
2. 'राज्य और अल्पसंख्यक' नाम से एक स्वतन्त्र वैकल्पिक संविधान प्रस्तुत करना जिसमें दलितों को अल्पसंख्यक समुदाय मानना और 'राज्य समाजवाद' की वकालत करना।
3. डॉ0 बी.आर. अम्बेडकर का कानून मंत्री बनना और हिन्दू कोड बिल पर अपना त्याग पत्र देना। यह विधेयक भारत में स्त्रियों के अधिकारों से संबंधित महत्वपूर्ण क्रांतिकारी विधेयक था।
4. वर्ष 1956 में डॉ0 बी. आर. अम्बेडकर का लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण करना।
5. वर्ष 1960 में मराठी में दलित साहित्य का आविर्भाव।
6. वर्ष 1978 में कांशीराम द्वारा बामसेफ की स्थापना, फिर डी.एस.फोर की स्थापना।
7. साठ के दशक में रिपब्लिकन पार्टी की स्थापना।
8. वर्ष 1984 में उत्तर भारत में बहुजन समाज पार्टी की स्थापना।

स्वतन्त्रता के बाद के दलित आंदोलन से सम्बन्धित यही वे महत्वपूर्ण घटनाएं हैं जिनके माध्यम से दलित आंदोलन का स्वरूप और उसकी विचारधारा मुखरित हुई। वर्ष 1949 में संविधान सभा का निर्माण हुआ जिसमें डॉ0 अम्बेडकर को केन्द्रीय भूमिका सौंपी गई। यद्यपि वे संविधान निर्माण में शिल्पी की भूमिका में थे। लेकिन यह उनके सपनों का संविधान नहीं था। कई कारणों से वे इसे अपने सपनों का संविधान नहीं बना सके। परिणामतः उन्होंने अनुसूचित जाति फेडरेशन की तरफ से एक वैकल्पिक संविधान का निर्माण किया जिसमें समाजवादी मूल्यों की स्थापना की गई और विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों को सामाजिक सुरक्षा की गारंटी प्रदान की गई। वर्ष 1956 में डॉ0 बी.आर. अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म को त्याग बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया। इतिहास में यह हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी सांस्कृतिक आलोचना थी। फिर उनकी मृत्यु के बाद वर्ष 1928 में रिपब्लिकन पार्टी की स्थापना की गई जो पहली ऐसी पार्टी थी जिसका नेतृत्व दलितों के हाथ में था। सन् 60 के दशक में मराठी में दलित साहित्य का आविर्भाव जिनके द्वारा साहित्य सबके लिए की गैर–दलितों की गर्वोक्ति पर प्रश्नचिन्ह् खड़ा हुआ। संसद में हिंदू कोड बिल को प्रस्तुत करना इतिहास की पहली घटना है जो हिन्दू समाज व्यवस्था को आधुनिक न्यायपरक मूल्यों के आधार पर संगठित करने की कोशिश की थी जिसमें महिलाओं को बराबरी का दर्जा प्रदान कर उनके स्वाभिमान की रक्षा की गई थी। 'दलित पैंथर' और 'बहुजन समाज पार्टी' का अस्तित्व में आना आदि जैसी घटनाएं दलित आंदोलन की इतिहास की मील के पत्थर हैं। ये घटनाएं दलित आंदोलन के एक व्यवस्थित विचार दर्शन की ओर बढ़ने का ही मात्र संकेत नहीं देती, बल्कि दलितों के एक स्वतन्त्र अस्तित्व के निर्माण की भूमिका भी तैयार करती है। अम्बेडकरवाद का दर्शन मात्र दलित मुक्ति का दर्शन नहीं था वह इस व्यवस्था को पूरी तरह ट्रान्सफार्म करने का दर्शन था। इतने बड़े आंदोलन का गैर–दलित बुद्धिजीवियों के चिंतन एवम् लेखन पर क्या असर पड़ा है ? साहित्य को यह किस तरह प्रभावित किया है ? निम्नलिखित पंक्तियों में इसी पर चर्चा की गई है। शोध प्रबंध के लिए एकत्रित की गई कहानियों के अध्ययन से मुख्यतः ये निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

1. दलित अपने जिन परम्परागत पेशे में हैं वहां उनका गैर–दलितों द्वारा घोर शोषण होता है।
2. दलित छुआछूत और वर्णाश्रम व्यवस्था के नियमों का अगर उल्लंघन करते हैं तो उनके साथ गैर–दलित लोग बहुत बेरहमी के साथ पेश आते हैं।
3. गरीब दलितों को उनकी आर्थिक मदद के नाम पर उनकी महिलाओं का यौन शोषण किया जाता है। इसके अतिरिक्त दलित महिलाओं का बलात् और धन देकर भी यौन शोषण किया जाता है। इतना ही नहीं दलित महिलाएं स्वयं ही गैर–दलितों से संभोग कराने के लिए लालायित रहती हैं और उनकी रखैल बनने के लिए हमेशा तैयार रहती है।
4. दलित अगर गैर–दलित महिला से शादी करने अथवा प्रेम करने की चेष्टा करता है तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है।
5. जमींदारों और ठाकुरों द्वारा दलित पुरुषों का आर्थिक, शारीरिक और मानसिक शोषण किया जाता है जबकि दलित महिलाओं का यौन शोषण किया जाता है।
6. दलितों की घोर आर्थिक तंगी का भी चित्रण हुआ है।
7. अपने शोषण की प्रक्रियाओं से गुजरते हुए दलित अपने स्वाभिमान का कहीं सफल तो कहीं असफल तरीके से रक्षा करने का प्रयास करते हैं। अधिकांशतः वे इसमें असफल ही होते हैं।
8. कुछ दलित वर्णाश्रम व्यवस्था को अपने नियति मान बैठे हैं।

इन्हीं उपरोक्त समस्याओं के इर्द–गिर्द कहानियों के कथानक बुने हुए हैं। पर इन कथानकों के निर्माण के पीछे न तो कोई दृष्टि है, न ही कोई योजना और न ही कोई विशेष उद्देश्य। दलित आंदोलन की दृष्टि

से ये सर्वथा दूर हैं। ऐसा नहीं है कि इन कहानियों के दलित पात्र अंबेडकर की विचारधारा को अपनाए हुए हैं। अथवा दलितों की जो समस्याएं हैं उसके विरूद्ध दलित कोई व्यवस्थित और संगठित तरीके का संघर्ष चलाते हैं, या उनके पीछे उनकी कोई राजनीतिक या सामाजिक सोच है। या उनमें कोई दलित चेतना है। सिर्फ इतना कि वे अपने परम्परागत अधिकारों के लिए कहीं–कहीं अपने मालिकों और शोषण करने वालों से टकराने की कोशिश करते हैं। टलित आंदोलन का दर्शन क्या है ? उसकी ऐतिहासिकता क्या है ? उसके सामाजिक और राजनैतिक सरोकार क्या है ? उसकी अस्मिता क्या है आदि की दृष्टि से ये कथानक निर्मित होते हुए नहीं दिखते। डॉ0 श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'रावण' और 'शोध प्रबंध' जैसी कहानियां नहीं मिलती जिसमें दलित अस्मिता और उसके लिए संघर्ष का दर्शन होता है। स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी साहित्य अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं और विचारधाराओं से अत्यधिक रूप से प्रभावित रहा है। चाहे वह मार्क्सवाद हो या अस्तित्ववाद, मनोविज्ञानवाद हो या समाजवाद, पर वह अम्बेडकरवाद से बिल्कुल ही प्रभावित नहीं दिखता। गैर–दलित समाज का संवेदनशील तबका दलित आंदोलन की हलचलों से अपने आपको कोसों दूर रखे हैं। दलित लेखन का संदर्भ में गैर–दलितों की जो स्थिति स्वतन्त्रता पूर्व थी, कमोवेश वही स्थिति आज भी है। अंतर सिर्फ इतना है कि आज दलितों पर लिखने वाले गैर–दलितों की संख्या अधिक है जबकि उस समय कम थी। दृष्टि में सिर्फ इतना फर्क आया है कि स्वतन्त्रता के पूर्व दलित पात्र अपनी स्थितियों में विद्रोह कम करते थे, जबकि आज थोड़ा अधिक करते हैं इस तरह आज का गैर–दलित लेखन स्वतन्त्रता से पूर्व के गैर–दलित के दलित लेखन का विस्तार मात्र है। इससे अधिक कुछ नहीं। दलित आंदोलन और उसकी अंबेडकरवादी दृष्टि का उस पर कोई पभाव नहीं है। गैर–दलितों के लिए दलित आंदोलन मात्र खुद के प्रति उनके ध्यानाकर्षण का माध्यम था और कुछ नहीं।

दलित दृष्टिकोण

दलित लेखन के संदर्भ में जिस तरह गैर–दलितों के दृष्टिकोण में असमानता पायी जाती है उसी तरह दलित लेखकों के दृष्टिकोण में भी असमानता पायी जाती है। वैसे हिंदी के दलित लेखकों और आलोचकों में मराठी लेखकों की अपेक्षा मत–वैभिन्नता बहुतद कम है। मराठी में अम्बेडकरवादियों और मार्क्सवादियों के बीच दलित और दलित साहित्य के निर्धारण के प्रश्न पर गहरे मतभेद है। वहां के मार्क्सवादी दलित, दलित और दलित साहित्य के दायरे को विस्तार देना चाहते हैं, जबकि अम्बेडकरवादी उसको दलित समुदाय तक ही सीमित रखना चाहते हैं। वैसे देखा जाए तो दलित साहित्य के संदर्भ में ढेर सारे प्रश्न उठाए गए है, लेकिन इसमें कुछ ही महत्वपूर्ण है। जैसे दलित कौन है ? दलित साहित्य क्या है ? दलित साहित्य के प्रेरणास्त्रोत क्या है, उसका सौन्दर्यशास्त्र क्या है ? दलित साहित्य गैर–दलित लिख सकते हैं कि नहीं। गैर–दलितों ने दलितों के विषय में अब तक जो लिखा है उसका महत्व क्या है ? अनुभूति और स्वानुभूति का प्रश्न आदि। अब पहले प्रश्न को लिया जाए और देखा जाए कि दलित लेखकों का इस विषय में क्या दृष्टिकोण है। अर्थात् दलित कौन है ? इस संदर्भ में डॉ0 श्यौराजसिंह 'बेचैन' का कहना है कि –'मेरे विचार से भारतीय समाज व्यवस्था में जिन्हें जन्म के आधार पर निम्न जाति करार दिया गया है, जिनके साथ बहिष्कार का व्यवहार हुआ है, जो अछूत माने गए है वे सब साहित्य की भाषा में दलित है। दूसरे शब्दों में दलित की सबसे अच्छी एवं सही परिभाषा संविधान में तय की गयी अनुसूचित जातियां एवं जनजातियां, दलित हैं .....।'' दलित कौन है इस संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि – ''दलित शब्द व्यापक अर्थबोध की अभिव्यंजना करता है। भारतीय समाज व्यवस्था में जिसे अश्पृश्य माना गया वही व्यक्ति दलित है .....।'' इस संदर्भ में डॉ0 धर्मवीर का कहना है कि – ''दलित हिंदू वर्ण व्यवस्था का कुछ नहीं लगता। वर्णव्यवस्था दलित की न मां है, न ताई न चाची, न मौसी और न मामी, न फूफी। वह उसकी दादी या नानी में से कुछ भी नहीं है। दलित के लिए हिंदू वर्ण व्यवस्था अचम्भा हो सकती है ..... हां यह कहना किसी भी दलित का मूल अधिकार है कि वह हिंदू वर्ण–व्यवस्था का अंग नहीं है। हिंदू वर्ण व्यवस्था दलित के लिए एक जेल है। दलित वर्ग ब्राह्मण की तरफ से सजायाफ्ता है लेकिन इस संभावना के साथ कि युद्व करके वह इस जेल से भी कभी बाहर हो सकता है। दृष्टि यहां तक फैली हुई होनी चाहिए कि दलित हिंदू वर्ण व्यवस्था से अनजान, बाहर और पृथक है .....।'' कुछ दलित साहित्यकारों और बुद्विजीवियों का मानना है दलित शब्द के अंतर्गत केवल अछूत ही रखे जा सकते हैं आदिवासी नहीं। इस संदर्भ में इन लोगों का मानना है कि आदिवासियों की समस्या अछूतों की समस्या से अलग है, अर्थात् सामाजिक भेदभाव का जितना सामना अछूतों को करना पड़ता है, उतना आदिवासियों को नहीं। इस तरह की सामाजिक समस्या से वे पूरी तरह मुक्त है। लेकिन उपरोक्त परिभाषाओं से जो बात उभर कर आती है वह यह कि जो समूह वर्णाश्रम व्यवस्था से बाहर है वही दलित है। इस आधार पर देखा जाए तो मात्र अछूत और आदिवासी ही वर्णाश्रम व्यवस्था से बाहर के समूह है। इसलिए इन्हीं को ही दलित की श्रेणी में रखा जाता है। अबर दलित शब्द से इन सामाजिक समूहों का भाव नहीं व्यक्त होता है, तो इसे छोड़ा जा सकता है जैस डॉ0 धर्मवीर कहते हैं –''दलित साहित्य की परिभाषा में दलित के स्वप्न, दलित की कल्पना और दलित के ख्याल को छोड़ा नहीं जा सकता। जरूरत पड़े तो इस दलित शब्द को छोड़ा जा सकता है।'' इसलिए दलित साहित्यकारों के लिए मोटे तौर पर और सर्वाधिक मान्य दलित शब्द अगर किसी सामाजिक समूह का द्योतक है तो वह है, वर्णाश्रम समाज व्यवस्था से बाहर रहने वाले समूह का। अब जो दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है वह है दलित साहित्य है क्या और उसकी अवधारणा क्या है ? दलित साहित्य की अवधारणा पर एक प्रश्न के उत्तर में ओमप्रकाश बाल्मीकि जी कहते हैं – ''जरूरी इसलिए है कि हिंदी साहित्य में ढूंढने पर भी हमें अपना चेहरा दिखायी नहीं देता, वो साहित्य

हमें अपना नहीं लगता। चूंकि वहां अपमान और हीनंताबोध को अलावा कुछ नहीं है। हमारी जिजीविषा, हमारा संघर्ष, हमारे जीवन मूल्य, हमारी मानवीय संवेदनाएं कैसे मान सकता है। हिंदी साहित्य के जो मूल सरोकार हैं वहीं से दलित साहित्य अलग हो जाता है। वर्ण व्यवस्था, जातिभेद, धार्मिक अलगाव, पारस्परिक वैमनस्य, भाषा भेद, प्रान्तीय भेद, लिंग भेद, सामन्तवाद, ब्राह्मणवाद, स्वर्ग–नरक की कल्पना, पुनर्जन्म, आत्मा का अस्तित्व, ईश्वरवाद, पुरोहितवाद, महाकाव्य की परिभाषा आदि अनेक ऐसे बिन्दु है जिनके विरूद्व दलित साहित्य खड़ा हुआ है और वो दलित मुक्ति संघर्ष का साहित्य है।'' दलित साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन लिखतें हैं कि – ''अब चूंकि दलित का आशय स्पष्टद है तब मैं यह कहना चाहूंगा कि इन जातियों की लिपिबद्व अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है। साथ ही यह बात ध्यान रखने योग्य है कि हर दलित का हर तरह का लेखन स्वतंत्रता, बंधुता, समानता एवं कुल मिलाकर मुक्ति का लेखन नहीं है। अर्थात् उसमें दलित चेहरा नहीं है या कहें कि वह दलित का साहित्य है, पर अच्छा साहित्य नहीं है। क्योंकि किसी भी वर्ग में न तो सभी लोग महान विचारक होते हैं ना परिवर्तनकामी होते हैं और न ही सभी प्रतिगामी प्रवृत्ति के होते है। आशय यह है कि विशेष दलित साहित्य की और सामान्य दलित साहित्य की ऐसी दो कोटियां हो सकती है और इनकी अनेक उप परिभाषाएं तय की जा सकती है। इसलिए बेहतर दलित साहित्य वही हो सकता है जो सामाजिक, बौद्विक, आर्थिक, राजनैतिक और कुल मिलाकर संपूर्ण मुक्ति को लक्ष्य करके लिखा जाता है। जो परिवतर्नकामी प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में सहायक हो रहा है और जिसका दार्शनिक आधार बाबा साहब अम्बेडकर की विचारधारा है। यह विचारधारा भी जड़ नहीं है। इसमें गत्यात्मकता है और छूटे हुए कार्यों को आगे बढ़ाने की स्वतंत्रता है।'' दलित साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि – ''भारतीय समाज में विषमताएं हैं, उनसे जोड़कर मैं दलित साहित्य की संकल्पना को देखता हूं, क्योंकि इसी भावना के साथ दलित साहित्य का जन्म हुआ है। किसी भी क्षेत्र में जो विषमताएं होगी, उसके खिलाफ विद्रोह आवश्यक होता है।

गैर–दलित दृष्टिकोण

जिस तरह दलित लेखन के संदर्भ में दलित साहित्यकारों और आलोचकों में मतैक्य नहीं है, उसी तरह गैर–दलित लेखकों में मतैक्य नहीं है। कुछ गैर–दलित लेखक दलित लेखन के संदर्भ में दलितों का जो दृष्टिकोण है उसी का समर्थन करते हैं और कुछ उसका विरोध। ऐसा नहीं कहा जा सकता हैं कि किसी विशेष विचारधारा का समर्थन करने वाला गैर–दलित आलोचक दलित साहित्य की मान्यताओं का समर्थक है और कोई विरोधी। अलग–अलग विचारधाराओं को मानने वालों के बीच भी दलित साहित्य की मान्यताओं को लेकर मतभेद है। जैसे पहली ही बात दलित कौन है ? इसी को लेकर लोगों में मत विभिन्नता है। जवरीमल्ल पारीख दलित शब्द के विस्तृत दायरे की संभावनाओं की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि – ''मसलन, दलित की परिभाषा के सवाल को लें– दलित किसे माना जाना चाहिए, उन्हें जो जन्म से अवर्ण हों जिन्हें हिंदू समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था के अनुसार शुद्र समझा जाता है या उन्हें जो अछूत समझे जाते हैं। शूद्र और अछूत दोनों श्रेणियां जन्म के आधार पर होती हैं, अर्थात् इस श्रेणी में आने वाले लोगों के साथ आर्थिक और सामाजिक भेदभाव इसलिए किया जाता हैं कि इनका जन्म सिद्व अधिकार समझा जाता है – दलित के अन्तर्गत क्या उनकी भी गिनती की जा सकती है जो जन्म से तो 'शूद्र' या 'अछूत' नहीं होते लेकिन जिनकी आर्थिक स्थिति 'अछूत' समाज से किसी भी अर्थ में भिन्न नहीं होती। अपनी आर्थिक दुरावस्था के कारण उन्हें सामाजिक रूप से प्रताड़ना झेलनी पड़ती है।'' जवरीमल्ल पारीख दलित शब्द के दायरे को विस्तार देने की तरफ संकेत तो करते है। लेकिन साथ ही वह यह भी कहते हैं कि जो पीड़ा गरीब और दलित होने के नाते होती है, वहीं पीड़ा गरीब और सवर्ण होने के नाते नहीं होती। इन दोनों में अंतर होता है। इस संदर्भ में डॉ0

शशिकला राय अपना मत व्यक्त करते हुए कहती हैं – ''सदी के उत्तरार्ध के बहुचर्चित, बहुनामी 'दलित साहित्य' का मूल आधार क्या है ? क्या इस तरह इस साहित्य को एक विशेष नाम और विशेष वर्ग के सीमित क्षेत्र में बद्व नहीं कर रहे हैं ? साहित्य एक अखण्ड अनुभूति है जो भी व्यक्ति अपने हृदय में संवेदना लेकर पैदा हुआ है, साहित्य के धरातल पर उसकी बिरादरी एक है। चाहे संसार के दो भिन्न छोरों पर ही क्यों न हो। साहित्य का फलक अनंत है, इसमें बाह्य जगत संबंधी इतनी विशाल भावना भरनी चाहिए कि जिसके प्रसार की सीमा में एकाध राष्ट्र नहीं बल्कि सम्पूर्ण पृथ्वी आ जाए। जाति, भाषा, क्षेत्र, धर्म आदि का आग्रह आदि एक ओर प्रबल होगा तो इन्हीं चीजों को लेकर खिंचाव दूसरे पक्ष में भी होगा ..... साहित्य में दलित चेतना और दलित लेखन काल विशेष की मांग और प्रमुख प्रवृत्ति हो सकती है। परन्तु लेखन दलित और साहित्य दलित नहीं हो सकता (कृपया दलित शब्द का मूल अर्थ ही लें गढा गया सीमित अर्थ नहीं) अपनी दृष्टि को सीमित कर लेने के बाद उसी दायरे के अनुसार सत्य का स्वरूप भी बदलने लगता है तब गांधी हमें दोषी नजर आने लगते हैं और छायावाद काल साहित्य के नाम पर कलंक।'' डॉ0 शशिकला राय अपनी बात कहते हुए अधिक भावुक हो उठती हैं। उनके अनुसार समाज में जातियां हैं, पर साहित्य को जातिगत आधार पर नहीं बांटा जा सकता। पर वे अपने जातिगत हिंदू संस्कारों के चलते जाति के महत्व और उसके अर्थ को समझने की कोशिश नहीं करती। इन्हें यह समझ में नहीं आता कि संवेदनाओं का संबंध जाति से भी होता है। अर्थात् भारत में किसी व्यक्ति की संवेदना उसकी जाति से स्वतंत्र नहीं है। तब यह कैसी विडंबना है कि समाज जाति के आधार पर तो बंटा रहे, पर साहित्य के आधार पर नहीं। साहित्य ऐसी कोई पवित्र चीज नहीं हैं कि उसमें केवल समाज की अच्छाइयां अच्छाइयां की अभिव्यक्त होती है, और वहां समाज की बुराइयों के लिए कोई जगह नहीं होती है। वैसे भी विभिन्न जातियों और धर्मों में बंटे हुए समाज में किसी वर्ग के लिए एक चीज बुरी हो सकती हैं तो वही दूसरे वर्ग के लिए अच्छी हो सकती है। इसका सीधा संबंध वर्गीय दृष्टि से है। कुछ गैर दलित लेखक स्पष्ट रूप से यह नहीं कहते हैं कि दलित कौन है ? पर अप्रत्यक्ष रूप से वे अपने कथन और विचार के माध्यम से यही कहना चाहते है कि जो आर्थिक रूप से कमजोर हैं वे सभी दलित है। इस संदर्भ में अपनी बात को कुछ इस तरह कहते हैं कि वे और उनकी रचनाएं दलित और दलित साहित्य के अंतर्गत आ जाएं। इसी तरह के एक आलोचक हैं डॉ0 ज्योतिष जोशी जिनका कहना है कि –''साहित्य में दलितवादी दृष्टि का दुःखद पक्ष यह है कि वह किसी भी सवर्ण द्वारा लिखित रचना या आलोचना को स्वीकार नहीं करती। उसके लिए प्रेमचंद की कहानी 'कफन' दलित विरोधी रचना हो जाती है तो निराला की 'कुकुरमत्ता' या दूसरी रचनाएं दयाभाव की उपज मात्र। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखा गया कबीर का मूल्यांकन गलत करार पाता है तो आचार्य शुक्ल के अधिकतर निष्कर्ष झूठे कहलाते हैं।.... इस दृष्टि का सीधा तर्क है कि दलितों द्वारा लिखित साहित्य ही दलित साहित्य है। दूसरे व्यक्ति द्वारा लिखी दलित रचना इसलिए दलित साहित्य नहीं हो सकती, क्योंकि वे दया और सहानुभूतिवश लिखी गई हैं, उसका भुक्त यथार्थ से कोई संबंध नहीं। इस आधार पर अगर निर्णय होने लगे तो साहित्य के हश्र का अनुमान करना कठिन नहीं रह जाता, यह सर्वमान्य तथ्य है कि हिंदी साहित्य में दलित लेखन की एक पुष्ट परंपरा है। इस परंपरा में दलित और दूसरे लेखकों की भागीदारी होती आयी है जिससे साहित्य की निरंतर श्रीवृद्वि होती आयी है, पर जो हाल के वर्षों में स्थिति पैदा हुई है उससे साहित्य की निरंतर श्रीवृद्वि होती आयी है, पर जो हाल के वर्षों में स्थिति पैदा हुई है उससे साहित्य को खेमों में बांटना साहित्य को खंड–खंड करना है और उसकी मूल चेतना को ध्वस्त करना है।'' डॉ0 ज्योतिष जोशी भी यहां जाति से संवेदना को अलग नहीं करते हैं। आचार्य रवीन्द्रनाथ टैगोर अफगानिस्तान की राजधानी के एक व्यक्ति को केन्द्र में रखकर 'काबुली वाला' नाम से एक कहानी लिखी, क्या रवीन्द्रनाथ ठाकुर अफगानी हो गए, या उस कहानी को

अफगानी साहित्य की तमाम विशेषताओं को प्रदर्शित करने वाली कहानी मान लिया जाए ? इस तरह उपरोक्त श्रेणी के विद्वान दलित साहित्यकारों के दृष्टिकोण को एक सिरे से नकार देते हैं।

निष्कर्ष

स्वतंत्रता के बाद का हिंदी साहित्य अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं और विचारधाराओं से अत्यधिक रूप से प्रभावित रहा है। चाहे वह मार्क्सवाद हो या अस्तित्ववाद, मनोविज्ञानवाद हो या समाजवाद, पर वह अम्बेडकरवाद से बिल्कुल ही प्रभावित नहीं दिखता। गैर–दलित समाज का संवदेनशील तबका दलित आंदोलन की हलचलों से अपने आपको कोसों दूर रखे है। इसलिए दलित लेखन के संदर्भ में गैर–दलितों की जो स्थिति स्वतंत्रता पूर्व थी, कमोवेश वही स्थिति आज भी है। अंतर सिर्फ इतना है कि आज दलितों पर लिखने वाल गैर–दलितों की संख्या अधिक है जबकि उस समय कम थी। दृष्टि में सिर्फ इतना फर्क आया है कि स्वतंत्रता के पूर्व दलित पात्र अपनी स्थितियों में विद्रोह कम करते थे, जबकि आज थोड़ा अधिक करते है। इस तरह आज के गैर दलितों को दलित लेखन स्वतंत्रता से पूर्व के गैर–दलितों के दलित लेखन का विस्तार मात्र है। इससे अधिक कुछ नहीं। दलित आंदोलन और उसकी अम्बेडकरवादी दृष्टि का उस पर कोई प्रभाव नहीं है। यहां मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि गैर–दलितों के लिए दलित आंदोलन मात्र खुद के प्रति उनके ध्यानाकर्षण का माध्यम था और कुछ नहीं।

स्वतंत्रता आंदोलन के नायक महात्मागांधी थे। वे उस समय इस आंदोलन का ही नेतृत्व नहीं कर रहे थे, बल्कि तत्कालीन सवर्ण समाज के उन तबकों के चिंतन का भी नेतृत्व कर रहे थे जो अपने आपको उदारवादी और प्रगतिशील कहता था। इसलिए दलितों के प्रति गांधी जी का जो दृष्टिकोण था और उनकी समस्याओं के प्रति जो उनका ट्रीटमेंट था वह सामान्य रूप से तत्कालीन उदारवादी और प्रगतिशील सवर्णों का दलितों के प्रति जो दृष्टिकोण गांधी जी से होकर आ रहा था वह दलित जीवन के वायवीय और स्थूल पक्ष के आधार पर बना था। इस स्तर पर क्या राजनीतिज्ञ और क्या समाजशास्त्री, क्या इतिहासकार और क्या साहित्यकार सभी का दृष्टिकोण एक समान था। दलितों के प्रति इस दृष्टिकोण से कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद भी नहीं बच पाए। दलितों के प्रति गैर–दलितों का यह दृष्टिकोण दलितों के खुद के चिंतन से भिन्न ही नहीं सर्वथा विपरीत था। उनके दृष्टिकोण में कही भी इन बातों का कि –दलितों के आंदोलन का दर्शन क्या है ? उसका उद्देश्य क्या है ? उसके अस्तित्व के आधार क्या है ? उसकी ऐतिहासिकता क्या है ? और उसके राजनैतिक और सामाजिक सरोकार क्या है आदि का जिक्र नहीं मिलता। इससे यह वर्ग पूरी तरह अनभिज्ञ था। कमोवेश आज के गैर–दलित लेखकों और बुद्विजीवियों का भी यही दृष्टिकोण है। इसलिए तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में उक्त दृष्टिकोण की ही झलक है और कमोवेश आज की रचनाओं में भी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अम्बेडकरवादी चिंतन का प्रभाव इन रचनाओं पर न के बराबर है। हां, इतना जरूर कहा जा सकता है कि गैर–दलित लेखकों की रचनाएं दलितों के जीवन से संबंधित तो रहीं, और हैं। किंतु इन पर अम्बेडकर की विचारधारा का प्रभाव न था, और न है। इस संदर्भ में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि अम्बेडकरवादी आंदोलन ने दलितों के जीवन के प्रति गैर–दलित लेखकों का मात्र ध्यानाकर्षण किया। इससे अधिक कुछ नहीं।

संदर्भ सूची

1. कुमार, राजेन्द्र (संपादक) – स्वतन्त्रता की दलित अवधारणा और निराला के विरोधाभास (लेख) अभिप्राय पत्रिका (संयुक्तांक 22–23) संपर्क – 12 बी/1, बंद रोड, एलन गंज, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, 211002

2. गंगानिया, ईश कुमार – हार नहीं मानूंगा (कविता संग्रह) अतिश प्रकाशन हरिनगर, दिल्ली–64, प्रथम संस्करण – 2000
3. ग्रेवाल, ओम प्रकाश – साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन पंचकूला, हरियाणा, प्रथम संस्करण–1994
4. गुप्ता, रमणिका (संपादक) – दूसरी दुनिया का यथार्थ, नवलेखन प्रकाशन मेन रोड हजारी बाग बिहार – 825301, प्रथम संस्करण – 1997
5. गुप्ता, रमणिका (संपादक) – दलित चेतना – साहित्य, नव लेखन प्रकाशन हजारी बाग, झारखण्ड–825301, प्रथम संस्करण–1997
6. गुप्ता, रमणिका (संपादक) – युद्धरत आम आदमी, दलित चेतना विशेषांक – 31, (जुलाई–सितम्बर–1995) नव लेखन प्रकाशन, हजारी बाग–825301
7. गुप्ता, रमणिका – मौसी, नीलकण्ठ प्रकाशन महाराली, नई दिल्ली – 30, प्रथम संस्करण –1996
8. गुप्ता, रमणिका – सीता, अनुराग प्रकाशन महरौली, नई दिल्ली–30, प्रथम संस्करण–1996
9. गुप्ता, रमणिका – अम मूरख नहीं बनेंगे हम, अभिरूचि प्रकाशन शाहदरा, दिल्ली–32, प्रथम संस्करण–1997
10. गुप्ता, रमणिका – दक्षिण–वाम के कटघरे और दलित साहित्य, नवलेखन प्रकाशन, हजारी बाग, झारखण्ड–01, प्रथम संस्करण–1998
11. गुप्ता, रमणिका – आदमी से आदमी तक, शुभम् प्रकाशन, दिल्ली–52, प्रथम संस्करण–1997